भगवान श्री आदि शंकराचार्य रचित

व्याख्याकार

स्वामिनि अमितानन्द सरस्वती

खण्ड - २

अनुक्रमणिका

श्लोक - १

तपोभिः क्षीणपापानां शान्तानां वीतरागिणाम्।
मुमुक्षूणामपेक्ष्योऽयं आत्मबोधो विधीयते॥

अन्वय :- **शान्तानां** - शान्त, **वीतरागिणाम्** - विरक्त, **तपोभिः क्षीणपापानां** - तप के द्वारा जिनके पाप क्षीण हुए है, **मुमुक्षूणां** - (ऐसे) मुमुक्षु को, **अपेक्ष्य** - के लिए, **अयं** - यह **आत्मबोधः** - आत्मबोध (नामक ग्रंथ) की, **विधीयते** - रचना की जा रही है।

श्लोकार्थ :- जिन्होंने तप के द्वारा अपने पापों को क्षीण कर दिया है, जिनका चित्त शान्त और आसक्तियों से रहित हो गया है, ऐसे मोक्ष प्राप्ति की तीव्र उत्कण्ठा से युक्त साधकों के लिए आत्मबोध की रचना की जा रही है ।

व्याख्या :- किसी भी ग्रंथ के विशेष परिचय से पूर्व उसके बारे में कुछ सामान्य ज्ञान आवश्यक होता है। प्रत्येक ग्रन्थ के बारे में चार बिन्दु ज्ञातव्य होते हैं, जिनके ज्ञान से ग्रन्थ के विशेष ज्ञान हेतु तीव्र एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है। इन बिन्दुओं को अनुबन्ध चतुष्टय कहते है। ये चार बिन्दु है - अधिकारी, विषय, प्रयोजन एवं सम्बन्ध। आत्मबोध ग्रंथ के अनुबन्ध चतुष्टयों का स्वरूप आचार्यश्री स्वयं इस प्रथम श्लोक में बताते हैं।

आचार्य कहते है कि जिसने तपस्या के द्वारा अपने मन को पाप रहित कर दिया है, तथा जिसके फलस्वरूप उसका मन शान्त तथा वीतराग हो गया है, जिसे अब मुक्त होने के अलावा और किसी की चाह नहीं है, वह ही इस ग्रन्थ को पढने का अधिकारी है । उसी के लिए वे आत्मबोध का विधान कर रहे हैं।

तपस्या अपने आप को अपने लक्ष्य के अनुरूप संकल्प पूर्वक ढालने को कहते हैं। तपस्या से हम अपने पाप धो सकते है। पाप उस दुष्प्रवृत्ति को कहते हैं जिससे हम अपने संस्कारों के वशीभूत होकर, वैचारिक स्वतन्त्रता खोकर बेबसी से वास्तविक लक्ष्य के विपरीत प्रवाहित होते रहते हैं। शिथिलता की ऐसी समस्या को दृढता एवं सजगता से ही समाप्त किया जा सकता है। अतः आचार्य कहते हैं कि जिसने अपने आपको तपस्या से पाप रहित कर दिया है, अर्थात् जिसने सद्गुण सम्पन्न होने के लिए दृढता से प्रयास किए हैं, वह ही इस ग्रन्थ को पढने का अधिकारी है। पाप से रहित मनुष्य शान्त मन का हो जाता है, और उसकी प्रेरणाएं स्वकेन्द्रित राग-द्वेष से रहित हो जाती हैं। ऐसे शुद्ध मन वाले लोग मुमुक्षु हो जाते हैं। इस ग्रन्थ का विषय अपने यथार्थ से अवगत होना है, और प्रयोजन मुक्ति की प्राप्ति है। सम्बन्ध प्रतिपाद्य - प्रतिपादक है।

श्लोक - २

संगति :- प्रत्येक जीव कृतार्थता रूपी शाश्वत शान्ति की खोज के लिए इच्छुक होता है। मोक्ष रूपी लक्ष्य के निर्धारण के बाद इस साध्य की सिद्धि हेतु साधन के विवेक की आवश्यकता होती है। यद्यपि समस्त धर्म एवं सम्प्रदाय इस ही लक्ष्य की सिद्धि हेतु मार्गनिर्देशन प्रदान करते हैं, तथापि पनघट की ड़गर बड़ी कठिन प्रतीत होती है। जिससे पूछो वह कोई न कोई अलग ही साधना बता देता है। एक श्रद्धालु मनुष्य के लिए किसी भी महात्मा पर शंका करना असम्भव ही नहीं अनुचित भी हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में शास्त्र सर्वप्रथम इस साधक को विचारपूर्वक साधन विवेक प्रदान करते हैं। सभी साधनों का कुछ न कुछ प्रयोजन होता है, लेकिन मोक्ष के लिए प्रधान साधन क्या है इसे ही आचार्यश्री अगले श्लोक में बताते हैं :-

बोधोऽन्यसाधनेभ्यो हि साक्षान्मोक्षैकसाधनम् ।
पाकस्य वह्निवज्ज्ञानं विना मोक्षो न सिध्यति ।।

अन्वयार्थ :- **बोधः** - ज्ञान, **अन्य साधनेभ्यः** - अन्य साधनों की अपेक्षा, **मोक्षैक** - मोक्ष का एक मात्र, **साक्षात्** - मुख्य, **साधनम्** - साधन है। **हि** - क्योंकि, **वह्नि** - अग्नि, **पाकस्यवत्** - (जैसे) भोजन के लिए, **ज्ञानं** - (वैसे ही) ज्ञान के, **विना** - बगैर, **मोक्षो** - मोक्ष, **न सिध्यति** - सिद्ध नहीं होता।

श्लोकार्थः- ज्ञान अन्य समस्त साधनों की अपेक्षा मोक्ष की प्राप्ति हेतु मुख्य साधन है। जैसे वगैर अग्नि के कभी भी भोजन नहीं बन सकता है, वैसे ही बिना तत्व के साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान के मोक्ष कभी भी प्राप्त नहीं होता है।

व्याख्या :- धर्म के अंगभूत समस्त तपादि साधनों का स्थान चित्त को निर्मल कर मुमुक्षुत्त्व उत्पन्न करने तक ही सीमित होता है। उससे मुक्ति प्राप्त नहीं होती है। मुक्ति केवल आत्म-ज्ञान से ही प्राप्त होती है।

जब तक मनुष्य अपने आप को खुद परिपूर्ण नहीं देख लेता है, तब तक उसकी किसी न किसी पर पराधीनता बनी रहेगी, और तब तक डर एवं दुःख भी अवश्यम्भावी होंगे। अपने से पृथक अगर ईश्वर का भी अनुभव प्राप्त होता है, उनसे भी कुछ समय बाद बिछुडना पड़ेगा, और फिर स्थिति वहीं की वहीं रहेगी। अगर पूर्णता की प्राप्ति सम्भव होती है, तो इतना स्पष्ट है कि यह कर्म जनित नहीं हो सकती। कर्मजनित सभी उपलब्धियाँ विनाशी होती हैं। पूर्ण तत्त्व तो सब जगह तथा सदैव होता है, अगर वह अप्राप्त सा प्रतीत हो रहा है तो समस्या केवल अज्ञान की ही है। अतः आचार्य कहते हैं कि मोक्ष का प्रधान साधन केवल ज्ञान मात्र ही होता है।

आचार्य दृष्टान्त से समझाते है कि जैसे भोजन बनाने के लिए चावल, मसालें आदि सबका स्थान होता है, किन्तु इन सब के होते हुए भी यदि अग्नि नहीं हो तो भोजन नहीं बन सकता। उसी प्रकार मोक्ष केवल ज्ञान मात्र से ही सम्भव होता है, क्योंकि बन्धन केवल अज्ञान की वजह से ही है।

श्लोक - ३

संगतिः- कर्म रूपी साधन समस्त इह और पार लौकिक उपलब्धियाँ करने का एक मात्र साधन होता है। उसी से अप्राप्त की प्राप्ति, अशुद्ध की शुद्धि आदि सम्भव होते हैं। कर्म से ही मनुष्य ने अपने जीवन की महान उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं। अतः इस साधन से ही कई लोग अज्ञान निवर्तक-लक्षण मोक्ष भी प्राप्त करने का प्रयास करने लगते हैं। जो भी ऐसी भूल कर बैठता है, वह मुक्ति की प्राप्ति की सम्भावना से ही वंचित हो जाता है । कर्म से मुक्ति क्यों नहीं प्राप्त हो सकती है यह अगले श्लोक में बताते हैं :-

अविरोधितया कर्म नाविद्यां विनिवर्तयेत् ।
विद्याऽविद्यां निहन्त्येव तेजस्तिमिरसंघवत् ॥

अन्वयार्थ :- **कर्म** - कर्म, **अविद्यां** - अज्ञान का, **अविरोधीतया** - विरोधी नहीं हाने से, **न विनिवर्तयेत्** - (अज्ञान को) देर नहीं करता। (जैसे) **तिमिर** - अंधकार को, **तेजः** - प्रकाश का, **संघवत्** - विरोधी, (वैसे) **विद्यां** - ज्ञान, **एव** - ही, **अविद्यां** - अज्ञान को, **निहन्ति** - हरता है।

श्लोकार्थ :- कर्म अज्ञान का विरोधी नहीं है, अतः वह अज्ञान का निवर्तक नहीं हो सकता है। जैसे 'प्रकाश' अन्धकार का विरोधी होने के कारण ही अन्धकार की निवृत्ति कर सकता है, वैसे ही 'ज्ञान' ही अज्ञान को निवृत्त करने में सक्षम होता है।'

व्याख्या :- मूल समस्या को जानने के उपरान्त यह जानना आवश्यक है कि इस समस्या का निदान कैसे सम्भव होगा। अगर अज्ञान ही एक मात्र सभी मुसीबतों का कारण है तो इस अज्ञान की निवृत्ति कैसे सम्भव होती है ?

किसी भी वस्तु को समाप्त करने के लिए हम लोग उस वस्तु के प्रतिरोधी को ढूँढ़ते हैं। अगर हमें उचित प्रतिरोधी मिल जाता है, तो समस्या का समाधान तत्क्षण हो जाता है, और यदि प्रतिरोधी नहीं मिलता है, तो समस्त प्रयास निष्फल ही हो जाते हैं। अतः जो भी मनुष्य अपने प्रयासों में गम्भीर होता है वह सर्वप्रथम प्रतिरोधी की तलाश करता है। साधना का फल काल-सापेक्ष कभी भी नहीं होता है, वह केवल अवरोध के प्रामाणिक प्रतिरोधी की अपेक्षा रखता है। जैसे अगर हमें किसी कमरे से अंधेरा दूर करना हो, तो हम यह कार्य चुटकी में कर सकते हैं, यदि हम अंधेरे का प्रतिरोधी 'प्रकाश' उस कमरे में ले आए, और अगर हम कमरे में प्रकाश नहीं लाएं तो सब प्रयासों के उपरान्त भी हम उस अंधेरे में ठ़ोकरें खाते रहेंगें।

यही गलती बहुत सारे साधक लोग करते दिखाई पड़ते हैं। वे मुमुक्षु होते हुए भी जिज्ञासु नहीं बन पाते हैं, और जीवन भर साधना ही करते रहते हैं। अविवेक के कारण वे अपने आपको समझाते रहते हैं कि यदि वे अपनी साधना 'ज्यादा समय' तक करते रहेगें तो वे सिद्ध हो जाएंगें। यदि कुछ 'करना' अज्ञान का प्रतिरोधी होता तो उस करने के प्रथम क्षण में ही अज्ञान नष्ट हो गया होता।

किसी भी प्रकार का कर्म अज्ञान विरोधी नहीं होता है, अतः कभी भी कुछ भी करने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। कर्म तो अज्ञान का ही कार्य है, और कोई भी कार्य अपने सत्ता प्रदाता का नाश कैसे कर सकता है। मोक्ष की प्राप्ति में न तो किसी अप्राप्त की प्राप्ति आपेक्षित होती है और न ही किसी मलिन की निर्मलता। वह तो अपने नित्य शुद्ध एवं बुद्ध स्वरूप को जान लेने मात्र से तत्क्षण प्राप्त होने वाली जागृती है। इसमें काल की कोई अपेक्षा नहीं है।

मोक्ष की प्राप्ति में कर्म का स्थान केवल चित्त-शोधक मात्र ही होता है। उसके बाद कर्म निष्प्रयोजन होता है। केवल इतना ही नहीं, बल्कि कर्म करते रहने की मनःस्थिति ही सबसे बड़ी अवरोधक बन जाती है। अतः शास्त्रोक्त तरीका कर्म-संन्यास पूर्वक ज्ञान की प्राप्ति मात्र में जीवन समर्पित करने का है।

श्लोक - ४

संगति :- मोक्ष की प्राप्ति में अज्ञान ही एक मात्र अवरोध है, अतः ज्ञान ही एक मात्र मोक्ष का साक्षात् साधन है। किन्तु अपने आपको पूर्ण जानने के लिए अपने को अद्धितीय जानना भी आवश्यक है, यह अद्धितीयता अनेकों जीव, जगत् आदि भेदों के रहते कैसे सम्भव हो सकती है। जब तक अन्य पदार्थों का अस्तित्त्व है, तब तक आत्मा उनके द्वारा सीमित रहेगी, फिर मोक्ष की सम्भावना कैसे होगी ? इस शंका का निराकरण अब करते है :-

परिच्छिन्न इवाज्ञानात् तन्नाशे सति केवलः।
स्वयं प्रकाशते ह्यात्मा मेघापाये अंशुमानिव!!

अन्वयार्थ :- **अज्ञानात्** - अज्ञान से ही, **आत्मा** - आत्मा, **परिच्छिन्न** - सीमित, **इव** - जैसी (प्रतीत होती है) **मेघ अपाये सति** - बादलों के हटने पर, **अंशुमान्** - सूर्य, **इव** - की तरह, **हि** - ही, **तत्** - उसके (अज्ञान के), **नाशे सति** - नाश होने पर **केवलः** - केवल, **आत्मा** - आत्मा, **हि** - ही, **स्वयं प्रकाशते** - स्वयं प्रकाशित होती हैं।

श्लोकार्थः- अज्ञान के कारण ही आत्मा सीमाओं से युक्त प्रतीत होती है, अज्ञान का नाश होने पर समस्त भेदों से रहित अपरिच्छिन्न आत्मा उसी प्रकार से प्रकाशित होती है, जैसे बादलों के हटने पर सूर्य प्रकाशित होता है ।

व्याख्या :- जहाँ अज्ञान है, वहाँ मोह है। मोह अर्थात् विपरीत ज्ञान। अज्ञान से उत्पन्न विपरीत ज्ञान की वजह से ही मनुष्य अपनी उपाधि से तादात्म्य करते हुए अपने बारे में क्षुद्रता की अनुभूति करता है। यह क्षुद्रता की अनुभूति जीव-जगत् आदि को हमसे भिन्न भेदों को उत्पन्न करती है।

जिस प्रकार अत्यन्त विशाल सूर्य के सामने एक छोटा सा बादल छा जाने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य को बादल ने ढ़क दिया, उसी प्रकार हमारी दृष्टि के उपर एक अविवेक रूपी बादल आत्मा रूपी सूर्य के आवृत्त होने का भ्रम उत्पन्न करा देती है। वस्तुतः किसी भी बादल में यह क्षमता नहीं है कि वह सूर्य को ढ़क सके, लेकिन फिर भी अन्तिम परिणाम यह ही होता है। हमारा अविवेक हमें अपने ब्रह्मस्वरूप के आनन्द से वंछित कर देता है।

हमारी अपनी परिछिन्नता का एहसास केवल किसी नासमझी के कारण ही है, वस्तुतः नहीं। अतः हमें पूर्णता की प्राप्ति की चेष्टा के बजाए अपनी परिच्छिन्नता की अनुभूति के हेतु पर विचार करना चाहिए। अविवेक रूपी बादल के हटते ही सूर्य तुल्य आत्मा का स्वतः साक्षात्कार हो जाता है। एक बार यह निश्चय हो जाए कि भेद का जन्म हमारी ही दृष्टि के दोष से हुआ है, फिर तो स्वतः अद्वैत-सिद्धि हो जाती है, इसी के साथ मोक्ष भी स्वाभाविक हो जाता है।

श्लोक – ५

संगति :– आत्मा समस्त परिच्छिन्नताओं से मुक्त है। अविवेक के कारण अपने बारे में सीमाओं की कल्पना हुई है। इन समस्त अविवेक जनित कल्पनाओं, तथा उसके जनक अज्ञान की निवृत्ति, अपनी अद्वय स्वरूपता के ज्ञान के श्रवण से ही होती है। फलस्वरूप मन भी समस्त विक्षेपादि से रहित शान्त हो जाता है। अब प्रश्न होता है कि हम शास्त्र का श्रवण करके नया ज्ञान प्राप्त करते हैं, मन में नए विक्षेप उत्पन्न करते है। अतः अपने पूर्ण एवं स्वतःसिद्ध स्वरूप का ज्ञान कैसे सिद्ध होगा? पूर्ण निवृत्ति की अपेक्षा करने वाले के लिए ज्ञानवृत्ति भी एक अवरोध नहीं बन जाएगी? इस प्रश्न के समाधान हेतु यहाँ आचार्य बताते हैं –

अज्ञानकलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासात् विनिर्मलम्।
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येत् जलं कतकरेणुवत्॥

अन्वयार्थ :– **अज्ञानकलुषं जीव** – अज्ञान से कलुषित जीव, **ज्ञानाभ्यासात्** – ज्ञान के अभ्यास से, **विनिर्मलम्** – निर्मल (होता है), **ज्ञानं कृत्वा** – ज्ञान उत्पन्न करके, **स्वयं** – स्वतः, (ज्ञानवृत्ति) **नश्येत्** – नष्ट हो जाती है, **कतकरेणुवत्** – कतकचूर्ण जैसे, **जलं** – जल को

श्लोकार्थ :– अज्ञान से कलुषित जीव ज्ञानवृत्ति को उत्पन्न करके उसके निरन्तर अभ्यास से शुद्ध हो जाता है। यह ज्ञानवृत्ति जीव को शुद्ध करके स्वतः भी नष्ट हो जाती है, जैसे कतक-चूर्ण पानी की गंद को साफ करके स्वयं भी बैठ जाता है।'

व्याख्या :– प्रत्येक मनुष्य ने अपने बारे में जो परिच्छिन्नता का निश्चय किया हुआ है, वह प्रामाणिक न होकर अज्ञान जनित कल्पना मात्र ही है। यह अज्ञान और विपरीत निश्चय ही आज हमारे अन्दर परिच्छिन्नता एवं तज्जनित पीड़ाओं का कारण बनता है। अज्ञान से उत्पन्न आत्मसम्बद्ध विपरीत धारणा ही वास्तविक कलुष है। वस्तुतः वह समस्त मलिनताओं से रहित शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव ही हैं। अतः इन मलिनताओं की निवृत्ति बुद्धिगत अज्ञान की निवृत्ति से ही हो सकती है। क्योंकि अज्ञान बुद्धि में है, अतः उसकी निवृत्ति ज्ञानवृत्ति से ही होनी पड़ेगी। अपने बारे में किये हुए अपूर्णता के निश्चय को दूर करने के लिये तद्विपरीत अपनी ब्रह्मस्वरूपता का निश्चय होना पड़ता है। जब साधक गुरुमुख से ब्रह्मविद्या का श्रवणादि करते हुए विचार करता है, वैसे वैसे इस ज्ञान के द्वारा परिच्छिन्नता की विपरीत भावनाएं समाप्त होने लगती हैं। अपनी ब्रह्मस्वरूपता की वृत्ति ही अन्य समस्त धारणाओं की समाप्ति के लिये एक मात्र हेतु है। यह 'ज्ञानवृत्ति' ऐसी बड़ी मछली के समान है, जो समस्त छोटी मछलियों को स्वाहा कर जाती है।

इस 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति को सतत सजगता से बनाए रखने के द्वारा उसके निश्चय की दृढ़ता हो जाती है। जिस समय यह निश्चय दृढ़ हो जाता है, तब ही ज्ञान हुआ कहा जाता है। इस वृत्ति की तब तक आवश्यकता है, जब तक अपनी अद्वितीयता के निश्चय में स्थिरता न हो जाय। उसके बाद यह वृत्ति अनावश्यक हो जाती है, और यह स्वतः ही गिर जाती है। वृत्ति से रहित होने पर भी निश्चय बना रहता है। निर्विकल्प समाधि में एक अद्वय सत्ता मात्र ही अवशिष्ट रहती है। यह बात कुछ ऐसी ही होती है, जैसे कि अशुद्ध जल की मलिनता को दूर करने के लिये उसमें कतक बीज का चूर्ण अथवा फिट्करी डाली जाती है। वह चूर्ण जल में समस्त मलिनताओं को लेकर नीचे बैठ जाता है, और इसके फलस्वरूप केवल शुद्ध जल मात्र अवशिष्ट रह जाता है। अतः यह ज्ञानवृत्ति कोई अवरोध न होते हुए औषधि रूप है।

श्लोक - ६

संगति :- जब किसी को यह बताया जाता है कि आत्म तत्त्व ही शाश्वत एवं अविनाशी है, एवं बाकी समस्त दृश्य विलास मिथ्या है, तो यह ज्ञान बहुत भारी सा प्रतीत होने लगता है। हमें भूख-प्यास, सुख-दुःखादि के प्रत्यक्ष अनुभव होते हैं। इससे तो यह ही निश्चय होता है कि यह जगत् सत्य ही है। ऐसे उपयोगी जगत् को कैसे मिथ्या माना जा सकता है? इस शंका के समाधान हेतु यहाँ आचार्य बताते हैं-

संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादि संकुलः।
स्वकाले सत्यवद् भाति प्रबोधे सत्यसद्भवेत्॥

अन्वयार्थ :- **राग-द्वेषादि संकुलः** - रागद्वेषादि से युक्त, **संसारः** - संसार, **स्वप्नतुल्यः** - स्वप्न के समान है, **स्वकाले** - उस समय, **सत्यवद्** - सत्य जैसा, **भाति** - प्रतीत होता है, **प्रबोधे सति** - जगने पर, **असद् भवेत्** - झूठ़ा दिखता है।

श्लोकार्थ :- राग-द्वेषादि से युक्त यह संसार स्वप्न के समान है। जब तक स्वप्न की अवस्था में है, तब तक ही यह जगत् सत्य प्रतीत होता है। जिस समय व्यक्ति जग जाता है, तो उसका झूठ़ापना दिखने लगता है।'

व्याख्या :- संसार एवं जगत् दो अलग अलग शब्द हैं। जगत् बोलते है- इन्द्रिय आदि ग्राह्य दृश्य के विलास को, एवं संसार शब्द का अर्थ है 'सम्यक् सरणम्' अर्थात् अच्छी तरह से अन्तहीन खोज में प्रवृत्त होना। जगत् की प्रतीति में न कोई समस्या है और न ही पीड़ा। अतः मुक्ति की प्राप्ति हेतु इसका अभाव आपेक्षित नहीं है। पीड़ाएं संसार की वजह से ही होती हैं। संसार अज्ञान जनित होता है। संसारी में कुछ निराधार धारणाएं होती हैं, जिसके वजह से उसकी यह भट़कन होती रहती है। मोटे तौर से संसारी मनुष्य में दो प्रकार की धारणाएं होती हैं। एक, हम सीमित एवं अपूर्ण हैं, और दो, यह दृश्यमान जगत सत्य एवं सारवान है। जब अपने आपको अपूर्ण और जगत को सारवान मान ही लिया गया है, तब सांसारिक प्रवृत्ति स्वाभाविक हो जाती है। इसी के साथ-साथ प्रारम्भ होती है राग-द्वेष आदि से युक्त अन्तहीन एवं भयंकर दुःख की दुनिया।

जिस समय हमारी नज़रों में जो इष्ट विषय है, उसकी प्राप्ति होती है-तो उस अनुकूल परिस्थिति में सुख का अनुभव होता है, तथा जब हमारी नज़रों में जो अनिष्ट विषय है, उसकी प्राप्ति होती है तो उस प्रतिकूल परिस्थिति में दुःख की अनुभूति हुआ करती है। ये सुख-दुःख व्यक्ति सापेक्ष होते हैं। अतः एक ही वस्तु एक व्यक्ति के लिये सुखदायी प्रतीत होती है, और दूसरे के लिये दुःखदायी। जिस विषय से सुख की अनुभूति होती है, उसके प्रति स्वाभाविक राग एवं जिससे दुःख की अनुभूति होती है, उसके प्रति स्वाभाविक ही द्वेष होने लगता है। हम अपनी दृष्टि से जगत् के विषयों में सुख एवं दुःख प्रदान करने की क्षमता आरोपित कर देते हैं, लेकिन यह रहस्य कोई विरले विवेकी लोग ही जानते हैं। यहाँ पर 'आ बैल मुझे मार' यह कहावत पूर्ण रूप से सार्थक होती है। एक तरफ से हमें यह जगत् सुख एवं दुःख प्रदान करता हुआ दिखता है, और दूसरी तरफ जगत् के विविध पदार्थों की व्यावहारिक उपयोगिता भी होती है। अतः हम इसे ही सत्य एवं सारवान् मानने की भूल कर बैठते हैं।

आचार्यश्री यहाँ पर कहते हैं कि यह सब सुख-दुःखादि प्रदान करने में सक्षम से प्रतीत होने वाले जगत् के विषय तभी तक सत्य एवं सारवान् माने जाते हैं, जब तक हमारी मोह की निद्रा समाप्त नहीं होती है, और हम सत्य में नहीं जग जाते हैं। जीवन के रहस्य एवं तत्त्व से

अवगत विवेकी मनुष्य को यह जगत् उसी प्रकार से दिखता है, जैसे स्वप्न से जगे हुए मनुष्य को अपनी स्वप्न की दुनिया दिखती है। स्वप्न अवस्था का दृष्टान्त बहुत ही अद्भुत दृष्टान्त होता है। स्वप्न अवस्था हम को यह सिखाती है कि, एक समय दिखने वाली स्वप्न की दुनिया अगले समय पूर्ण रूप से लुप्त ही हो जाती है। स्वप्न की दुनिया तभी तक दिखती है, जब तक हम सो रहे हैं, अर्थात् जाग्रत अवस्था की सच्चाई से अनभिज्ञ हैं। अतः हमको जीवन के यथार्थ से अवगत होने के लिये भरसक प्रयास करना चाहिए। यह ज्ञान जागृति तुल्य होता है, जिसके बाद जगत् के विषयों से मोहित होने की सम्भावना पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है। इस जागृति तुल्य विवेक की प्राप्ति हेतु हमें अपने राग-द्वेषादि से प्रेरित एवं प्रभावित होने की आदत को समाप्त करना होगा। मान्यताओं से प्रेरित न होते हुए अपने विवेक से व्यवहार करना सीखना होगा। अगर आत्मा ही ब्रह्म है तो विषयों को इतना सिर पर क्यों बैठाया जाय! जो अनित्य को अनित्य देखने लगता है वह ही नित्य के साक्षात्कार का पात्र होता है।

श्लोक - ७

संगति :- हम जिस भी अवस्था में होते हैं वह ही हमें सत्य प्रतीत होती है, शेष सब काल्पनिक सा लगता है। अतः हम सबको यह दुनिया ही सत्य दिखती रहती है। कितनी भी बार श्रवण, भजन आदि कर लो तब भी जगत के प्रति सत्यता की बुद्धि जाती नहीं है। यहां के सुख-दुख, मान-अपमान आदि हमें प्रभावित करते रहते हैं। अतः यह जिज्ञासा होती है कि ऐसा कब तक चलता रहेगा? कब हमें भी यह जगत स्वप्नवत् 'दिखने' लगेगा। भगवत्पाद इस प्रश्न का उत्तर अगले श्लोक में देते हैं :-

तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिकारजतं यथा।
यावन्न ज्ञायते ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम्।।

अन्वयार्थ :- **यावत्** - जब तक, **सर्व** - सब का, **अधिष्ठानम्** - अधिष्ठान, **अद्वयम् ब्रह्म** - अद्वय स्वरूप ब्रह्म को, **न ज्ञायते** - नहीं जानते है, **तावत्** - तब तक, **जगद्** - जगत, **सत्यं** - सत्य, **भाति** - प्रतीत होता है, **यथा** - जैसे, **शुक्तिका** - सीपी में, **रजतं** - चांदी।

श्लोकार्थः- 'जगत् तब तक सत्य प्रतीत होता है जब तक जगत के अधिष्ठान अद्वय स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता है। जैसे सीपी में चाँदी का भ्रम तब तक ही होता है, जब तक सीपी का ज्ञान नहीं होता है।

व्याख्या :- यह बात सत्य है कि आज हमें इस जगत् के सुख-दुःखादि प्रभावित करते हैं। यद्यपि तर्क के द्वारा जगत् के मिथ्यात्व का निश्चय भी हमने किया है, तथापि मिथ्या को सत्य समझने का मोह तब तक बना रहता है, जब तक सत्य को नहीं जाना है। कोई भी कल्पना निराधार नहीं हुआ करती है। सत्य को जानने का अभिप्राय है कल्पना के आधार को जानना। जगत् के बारे में विचार करने पर यह दिखाई पड़ता है कि यह प्रतिक्षण परिवर्तनशील जगत् शाश्वत् सत्य नहीं हो सकता है। यदि यह कल्पना है तो कोई न कोई उसका आधार अवश्य है, जिसके न जानने से यह जगत महत्वपूर्ण हो गया है।

शास्त्र इस सत्य के बारे में ही चर्चा कर रहे हैं। वे बताते है कि जिस शाश्वत सत्य को न जानने से यह परिवर्तनशील जगत इतना महत्वपूर्ण बन जाता है, वह ही अद्वय ब्रह्म है। इस ब्रह्म से ही यह जगत उत्पन्न हुआ है और इसी में टिका हुआ है। हमारी सुख-दुःख, मान-अपमान आदि रूप समस्त समस्याओं का कारण इस अधिष्ठानभूत सत्य को न जानने के

कारण नाम-रूपात्मक जगत के प्रति उत्पन्न महत्व की बुद्धि है। अतः यह समस्या तब तक बनी रहेगी जब तक हम सत्य को अपरोक्ष रूप से नहीं जानते हैं।

इस तथ्य को दृष्टान्त से समझाते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि, जैसे समुद्र तट पर पड़ी हुई सीपी को ठीक से न जानने के कारण उसमें चांदी के टुकड़े का आभास उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार यहां भी होता है। काल्पनिक चांदी हमें कभी तृप्त नहीं कर सकती है, और यह प्रवृत्ति तब तक ही होती है जब तक चांदी के आधारभूत सत्य सीपी को नहीं जाना है। अतः हमें कल्पना एवं सत्य का विवेक होना चाहिए। यह विवेक ही हमें मान-अपमान आदि दुःखों से सदैव के लिए मुक्ति प्रदान कर देता है।

श्लोक - ८

संगति :- यह संसार मिथ्या है, वह तब तक ही सत्य प्रतीत होता है, जब तक उसके अधिष्ठानभूत अद्वय ब्रह्म का ज्ञान नहीं होंता है। जगत् के प्रति जब तक सत्यता का भ्रम होता है, तब तक उसके प्रति राग-द्वेषात्मक दृष्टि बनी रहती है। किन्तु जब हमें यह ज्ञात होता है कि यह मिथ्या है, तो उसके साथ सम्बन्ध उपेक्षणीय होने की सम्भावना बनी रहती है, जिससे ईश्वर द्वारा प्रदत्त परिस्थितियों के प्रति भी संवेदनशीलता का अभाव जैसे दोष पैदा हो सकते है। जो विज्ञान हमारे जीवन को और आनन्दमय करने के लिए है, हम उसका आश्रय लेकर भी अपने किसी नासमझी के कारण उस आनन्द से वंचित रह जाते है, बल्कि यह ज्ञान जीवन में एक नये मोह और समस्या का कारण बनता है। अतः जगत् के उस पहेलू को जानना भी आवश्यक है, जिससे जगत् के साथ सम्बन्ध राग-द्वेषात्मक अथवा उपेक्षणीय न होकर दिव्य एवं असंगता पूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो सके। इसके लिए आगे के श्लोक में आचार्यजी बताते है कि यह जगत् परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है।

उपादानेऽखिलाधारे जगन्ति परमेश्वरे।
सर्गस्थितिलयान्यान्ति बुद्बुदानीव वारिणि॥

अन्वयार्थ :- **अखिल** - सब के, **उपादाने** - उपादान कारण, **आधारे** - आधार रूप, **परमेश्वरे** - परमेश्वर में, **जगन्ति** - जगत, **सर्ग** - उत्पत्ति, **स्थिति** - स्थिति, **लयान्** - लय को, (वैसे ही) **यान्ति** - प्राप्त होता है, **इव** - जैसे, **वारिणि** - जल में, **बुद्बुदानि** - बुलबुलें।

श्लोकार्थ :- सब के उपादान कारण और आधार रूप परमेश्वर में ही यह जगत् उत्पत्ति, स्थिति और लय को उसी प्रकार प्राप्त होता है कि जैसे जल में बुलबुलें आदि नाम-रूप की उत्पत्ति आदि होती है।

व्याख्या :- जगत् एक कार्यरूप है। वह जिससे उत्पन्न होता है, जिसमें टिका है, तथा प्रलय होने पर जिसमें विलीन हो जाता है-उस आधारभूत तत्त्व को उसका उपादान कारण कहा जाता है। आचार्य बताते है कि इस जगत् के उपादान कारण साक्षात् परमात्मा ही है। वह ही उसको अस्तित्व प्रदान करने वाले आधार है। अर्थात् परमात्मा ही इस जगत् की तरह से उसी प्रकार से अभिव्यक्त हुए है, जैसे जल में से लहरें, फेनें, तरंग आदि नाम-रूप की विविधता उत्पन्न होती है। उसकी स्थिति के समय जल ही उसे आधार प्रदान करता है, और जब लय को प्राप्त होते है, तो जल तत्त्व ही अवशिष्ट रहता है। अर्थात् लहर आदि नाम-रूप वस्तुतः जल मात्र ही है। नाम-रूपात्मक विकार कुछ क्षणों के लिए ही प्रतीत होते है।

इस तथ्य को जानने के उपरान्त जगत् के साथ सम्बन्ध का स्वरूप ही बदल जाता है। जगत् के नाम-रूप को सत्य जानकर उसे महत्त्व प्रदान करने पर सम्बन्ध राग-द्वेषात्मक होते है। जब उसी नाम-रूप को झूठा जानते है, तो उसके साथ उपेक्षणीय सम्बन्ध होने लगते है। किन्तु जब इसे परमात्मा स्वरूप जानते है, तो विलक्षण सम्बन्ध स्थापित होने लगते है। सर्व प्रथम समस्त नाम-रूपात्मक जगत की परिवर्तनशीलता को जानने की वजह से उसके प्रति पराधीनताओं से मुक्त होने लगते है। सब कुछ परमात्मा ही है, अतः जगत् बहुत ही सुन्दर है। न तो कुछ राग के योग्य है, और न ही द्वेष के योग्य। समस्त अपेक्षाओं से रहित जगत् के प्रति दिव्यता की दृष्टि मन में असंगता लाती है। प्रत्येक परिस्थिति और उसके अनुरूप अपने कर्तव्यों के प्रति संवेदनशील और साथ-साथ निरपेक्षता के सम्बन्ध को ही असंगता कहा जाता है, न कि उदासीन होने को। जगत् के प्रति मिथ्यात्व की दृष्टि का यह ही स्वरूप होना चाहिए।

श्लोक - ६

संगति :- यदि परमात्मा ही इस जगत् की तरह अभिव्यक्त हुए हैं, तो वे हमें इस समय दिखाई क्यों नहीं देते हैं, उनका अनुभव क्यों नहीं होता है। इस प्रश्न के उत्तर में आचार्यश्री कहते हैं कि परमात्मा रूपी अधिष्ठान हमारे द्वारा किए हुए आरोपों से ही छिपा हुआ है।

सच्चिदात्मन्यनुस्यूते नित्ये विष्णौ प्रकल्पिताः।
व्यक्तयो विविधास्सर्वा हाटके कटकादिवत्॥

अन्वयार्थ :- **नित्ये** - नित्य, **सच्चिदात्मनि** - सत् चित् स्वरूप आत्मा में, **विष्णौ** - विष्णु मे, **अनुस्यूते** - व्याप्त, **सर्वा** - सभी, **व्यक्तयः** - व्यक्त पदार्थ, **प्रकल्पिताः** - (वैसे ही) कल्पित है, **विविधा कटकादिवत्** - जैसे विविध आभूषण, **हाटके** - सोने में।

श्लोकार्थः- जगत् के समस्त पदार्थ आदि सच्चित् स्वरूप, नित्य, सर्वव्यापक विष्णु रूपी अधिष्ठान पर उसी प्रकार आरोपित किये जाते है, जिस प्रकार स्वर्ण में कंगन इत्यादि आभूषण।

व्याख्या :- यह जगत् सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ को वह सत् एवं चित् रूप से व्याप्त करते हैं। जगत् के प्रत्येक नाम एवं रूपात्मक पदार्थ की सत्ता है, तथा वह पदार्थ भासित होता है। यह सत्ता ही परमात्मा की सत् स्वरूपता है, तथा उसका भासित होना उसकी चित्स्वरूपता है। सत्ता और चेतनता प्रत्येक पदार्थ को व्याप्त करती है, उसके बगैर किसी भी वस्तु का होना सम्भव ही नहीं है। वस्तु के नाम और रूप में परिवर्तन एवं विकार से उसके अधिष्ठानभूत सत्ता और चेतनता में किसी भी प्रकार की विकृति नहीं होती है। अतः नाम-रूप उसके उपर कल्पना मात्र ही है। जब तक हमारी दृष्टि नाम-रूप को सत्य मानकर उसमें ग्रसित है, तब तक अधिष्ठान की ओर ध्यान जाना सम्भव ही नहीं है।

आचार्यश्री दृष्टान्त देते हैं कि, जैसे सोना ही विविध आभूषण की तरह से अभिव्यक्त होता है। प्रत्येक आभूषण का सत्य सोना है। सोने के बिना किसी आभूषण का अस्तित्व ही नहीं है, उसके प्रत्येक कण-कण को सोना व्याप्त कर रहा है। जब आभूषणों की कलात्मकता को तथा उपयोगिता को देखते हुए उनके नाम-रूपों के प्रति अत्यधिक महत्त्व की बुद्धि होती है, तो सोना छिप जाता है। जिस समय नाम-रूपों के कल्पित होने का निश्चय हो जाता है और उसके प्रति महत्त्व की बुद्धि कम हो जाती है, तब परमात्मा कण-कण में दिखने लगते हैं।

श्लोक – १०

संगति :- नाम-रूप के प्रति अत्यधिक महत्त्व की बुद्धि ही सत्य के दर्शन में व्यवधान उत्पन्न करती है। जिस समय नाम-रूप के कल्पित होने का निश्चय हो जाता है, तब सत्य स्वरूप अधिष्ठान के साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इस तथ्य को आचार्यश्री ने स्वर्ण में कल्पित आभूषण के दृष्टान्त से समझाया। नाम-रूपों के प्रति महत्त्व की बुद्धि समाप्त करने पर सोने को तो ठीक से देखा जा सकता है, किन्तु परमात्म तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उन्हें समस्त पदार्थों में व्याप्त देख पाना कठिन लगता है। आचार्यश्री आगे के श्लोक में आकाश के दृष्टान्त से परमात्म तत्त्व की सूक्ष्मता को दिखा कर उसके ज्ञान का स्वरूप दिखाते हैं :-

यथाकाशो हृषीकेशो नानोपाधिगतो विभुः।
तद्भेदाद् भिन्नवद्भाति तन्नाशे केवलो भवेत्॥

अन्वयार्थ :- **यथा** – जैसे, **नाना** – विविध, **उपाधिगतो** – उपाधि में स्थित, **विभुः** – सर्वव्यापी, **आकाशः** – आकाश, **तत्** – उसके (उपाधि के), **भेदाद्** – भेद से, **भिन्नवद्** – भिन्न जैसा, **भाति** – प्रतीत होता है, **तत्** – उपाधि के, **नाशे** – नाश होने पर, **केवलः** – एक मात्र, **भवेत्** – रहता है। (वैसे ही) **हृषीकेश** – उपाधियों में व्याप्त चेतनता।

श्लोकार्थं :- जैसे सर्वव्यापक आकाश भिन्न-भिन्न उपाधियों के कारण अनेक प्रतीत होता है, तथा उपाधियों के नष्ट होने पर एक हो जाता है, उसी तरह भिन्न-भिन्न उपाधिओं के कारण अनेक प्रतीत होने वाली एक ही सर्वव्यापक सत्ता उन उपाधियों के बाधित होने पर एक हो जाती है।

व्याख्या :- सर्वव्यापी परमात्मा एक एवं अत्यन्त सूक्ष्म है। यह एक होने पर भी जगत् में नाम-रूपात्मक उपाधियों की विविधता के कारण अनेक की तरह भासित हो रहे हैं। इस कारण से वे 'विभु' नाम से जाने जाते हैं, तथा उन्हीं के द्वारा समस्त उपाधियां चेतनवान होकर व्यवहार करने योग्य बनती है, अतः यह तत्त्व हृषीकेश नाम से भी जाना जाता है। इन उपाधियों की परिच्छिन्नता के कारण ही छोटे-बड़े के भेद की कल्पना कर तदुपरान्त व्यवहार होता है। परमात्मा एक है और केवल उपाधियों के कारण ही उनमें अनेकता प्रतीत होती है। जिस समय विवेक के आश्रय से उपाधियों को कल्पित जानकर बाधित कर दिया जाता है, तब यह तथ्य दिखने लगता है कि समस्त उपाधियों में एक सर्वव्यापी परमात्मा विराजमान है। वह एक होने के कारण हम से पृथक् नहीं है। हमारी परिच्छिन्नताएं उपाधि की परिच्छिन्नता के कारण आरोपित मात्र थी, अतः छोटे-बड़े के समस्त भेदों की समाप्ति के साथ समस्त समस्याओं का अन्त हो जाता है।

आचार्यश्री इस तथ्य को आकाश के दृष्टान्त से समझाते हैं। आकाश भी एक, सूक्ष्म एवं सर्वव्यापक होता है। किन्तु उसकी घट आदि उपाधियों से आवृत्त घटाकाश, कमरे के द्वारा आवृत्त मठाकाश आदि की तरह से पहचान होती है, तथा उसके अनुरूप व्यवहार होता हैं। जिस समय घड़ा टूट जाता है, तब घड़े से आवृत्त घटाकाश दिवारों से मुक्त सा होकर महाकाश में विलीन सा हो जाता है। घटाकाश का जन्म घड़े की दीवारों के कारण ही कल्पित किया गया था। घड़े की स्थूल दीवारें सूक्ष्म एवं सर्वव्यापी आकाश को कभी भी परिच्छिन्न नहीं बना सकती हैं। उपाधिवशात् उसकी कल्पना मात्र होती है। आकाश सदैव ज्यों का त्यों विद्यमान है। इस दृष्टान्त से परमात्मा की सर्वव्यापकता तथा समस्त उपाधियों में एक मात्र होने का निश्चय होता है। अतः अपने को आकाश की तरह एक, सर्वव्यापक एवं असंग जानना चाहिए।

श्लोक – ११

संगति :- आत्मा आकाश की तरह सूक्ष्म, असंग और सर्वव्यापक है। उसमें परिच्छिन्नता की केवल कल्पना मात्र हुई है। जो इस नाम-रूपात्मक जगत् एवं उपाधियों के मिथ्यात्व का निश्चय करके स्वयं को असंग जानता है, उसके सुख एवं दुःख का आधार औपाधिक परिवर्तन नहीं होता है। वह उपाधियों की विशेषताओं को देखते हुए, तथा स्वयं के बारे में पूर्व अवधारणाओं के कारण, जगत् के मिथ्यात्व की बात को आत्मसात नहीं कर पाता है। अतः अगले श्लोक में आचार्यश्री जल के दृष्टान्त के माध्यम से जगत के मिथ्यात्व का ज्ञान प्रदान कर रहे है :-

नानोपाधिवशादेव जातिवर्णाश्रमादयः।
आत्मन्यारोपितास्तोये रसवर्णादिभेदवत्॥

अन्वयार्थ :- **आत्मनि** – आत्मा में, **नाना** – विविध, **उपाधिवशाद्** – उपाधि की वजह से, **एव** – ही, **जातिवर्ण** – जाति वर्ण, **आश्रम** – आश्रम, **आदयः** – आदि, **आरोपिताः** – आरोपित है, **तोये** – जल में, रसवर्ण आदि भेदवत् – जैसे रस, रंग आदि भेद (आरोपित किये जाते है)

श्लोकार्थ :- भिन्न भिन्न उपाधियों के साथ सम्बन्ध के कारण जाति, वर्ण, आश्रम इत्यादि आत्मा पर आरोपित किये जाते है, जैसे जल में रस, रंग, आकार आदि आरोपित किया जाता है।

व्याख्या :- आत्मा सदैव निर्विशेष एवं निरुपाधिक है। जगत् का प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को किसी न किसी विशेषता से युक्त मान कर जीता है, और उसके कारण वह सुख-दुःख आदि समस्याओं से युक्त होकर पीड़ित होता है। जैसे अपने को ब्राह्मण आदि जाति का मानकर अपने अन्दर बड़प्पन अथवा छोटेपन का अभिमान करता है, तदुपरान्त मान-अपमान की चिन्ता से युक्त होता है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि आश्रम से युक्त जानकर आश्रमी का अभिमान करता है। समाज में अपने औपाधिक विशेषताओं के कारण प्राप्त स्थान के कारण सुख का अनुभव करता है, तथा उसके परिवर्तनशील स्वभाव के कारण पदभ्रष्ट होने की कल्पना के कारण चिन्ता से ग्रसित रहता है। व्यावहारिक दृष्टि से बनाई हुई इन व्यवस्थाओं को अज्ञानवशात् अपनी वास्तविक विशेषता जानने के कारण ही वह सांसारिक सुख-दुःख का अनुभव करता है।

इन समस्त से मुक्ति के लिए यह जानना आवश्यक है कि यह समस्त विशेषताएं औपाधिक मात्र ही है। औपाधिक परिच्छिन्नता से वह स्वरूपतः परिच्छिन्न नहीं होता है, तथा उसकी विशेषता से वह विशिष्ट नहीं होता है। यह सब आत्मा के उपर किया हुआ आरोपण मात्र है।

सत्य तो यह है कि आत्मा सदैव इन विशेषताओं से रहित है, अतः वह किसी भी प्रकार की विशेषता को धारण करने में समर्थ है। जिससे तादात्म्य किया जाता है, उन उन प्रकार से दिखने लग जाती है। यहाँ आचार्यश्री पानी के दृष्टान्त से बता रहे है, कि जैसे पानी का अपना कोई रंग, रूप, आकार एवं रस नहीं होता है, किन्तु वह कहीं लाल तो कहीं नीले रंग का नजर आता है। कभी मीठा तो कभी खारे स्वाद का अनुभव आता है। उसमें जैसा पदार्थ मिलाया जाय उसी के गुणों से युक्त प्रतीत होंने लगता है। उपाधि के अनुरूप वह प्रतीत होता है। यह समस्त उपाधि के धर्म हैं जल के नहीं है। उसी प्रकार जाति, वर्ण आश्रम आदि मात्र उपाधिधर्म ही है। आत्मा सदैव उन जाति आदि की परिच्छिन्नताओं से रहित, नित्य मुक्त स्वरूप ही है। वह निर्विशेष एवं परिपूर्ण है।